व्यक्त करने के लिए भाषा तत्त्व भी अपने परिवेश में से ही मिलते हैं पर जिस प्रकार हमारी शरीर सामग्री का चयन हमारी आत्मा के साकार के लिए हमारे संस्कारों के अनुरूप होता है वैसे ही चेतना की अभिव्यक्ति भाषा के रूप में उसके बिंबानुसार होती है । भाषा व्यक्ति की निधि अवश्य है पर वह समाज की धरोहर है और इतिहास के स्मृति-कोश में निहित है, लेखक, कलाकार, वैज्ञानिक अथवा वक्ता इसी सामाजिक और ऐतिहासिक निधि का आश्रय लेता है और अपनी अनुभूति व चेतना के अनुरूप शब्दाकृतियों को जन्म देता है । ये शब्दाकृतियां अनुकरणात्मक भी हो सकती हैं और सर्जनात्मक भी । अनुकरणात्मक शब्दाकृति संचार-प्रक्रिया में श्रोता अथवा पाठक की स्मृति का उद्‌बोधन कर सकती है या उसे अज्ञात तथ्यों का ज्ञान दे सकती है किंतु सर्जनात्मक शब्दाकृति उसके लिए नयी अनुभूतियों का सर्जन कर सकती है, अवचेतन में पड़ी शक्तियों को जगा सकती है और जनमानस और समाज की भाषा को नयी शक्ति प्रदान कर सकती है ।

भाषा यदि जीवन की चेतना का शब्दांतर है तो जीवन और चेतना के प्रवाह के साथ-साथ भाषा-प्रवाह भी इसी प्रकार आगे बढ़ता है ।

जीवन, चेतना और भाषा, इनके प्रवाह का आदि स्रोत क्या हैं ? किसी ने कहा ब्रह्म, उसी से जीवन, चेतना और भाषा (शब्द) का प्रवाह प्रारंभ होता है और उसी में उनका विलय हो जाता है । फिर वहीं से प्रारंभ होता है और वहीं उसका विलय हो जाता है । यह सृष्टि और प्रलय का प्रवाह अनादि और अनंत है । किसी ने कहा जीवन ही प्रवाह का पर्याय है उसे अस्तित्व में आने के लिए किसी निमित्त कारण की अपेक्षा नहीं है, वह स्वयंसिद्ध सनातन और निरतंर है । जीवन-प्रवाह है, चेतना प्रवाह है, भाषा भी प्रवाह है । किसी ने प्रवाह को सनातन सत्ता माना, किसी ने प्रवाह से परे एक अप्रवाहित सत्ता को सनातन माना । किसी ने सनातन का दर्शन किया, किसी ने प्रवाह दर्शन का सर्जन कर लिया । अपने-अपने विचार के अनुसार किसी ने भाषा को शब्दब्रह्म मानकर उसके दर्शन की साधना की, और किसी ने उसे सामाजिक उत्कृति मानकर उसका अर्जन और सर्जन करने का प्रयास किया ।

भाषा के दैवी स्रोत और सामाजिक सर्जन के विषय में भारत और यूरोप दोनों के विभिन्न विचारकों में मतभेद रहा है । यूरोप में दैवी स्रोत के प्रवर्तक प्लेटो थे और सामाजिक सर्जन के मुख्य प्रवर्तक अरस्तू थे । प्लेटो का मत था कि जिस प्रकार हिरण्यगर्भ के अंदर सृष्टि के पूर्व से समस्त स्रष्टव्य पदार्थों और योनियों का सन्निवेश रहता है उसी प्रकार समस्त सृष्टि से संबद्ध पूर्ण शब्दों अर्थात् संपूर्ण भाषा का भी सन्निवेश रहता है और सृष्टि के आदि में वही दैवी भाषा मनुष्य को सृष्टिकर्ता की ओर से मिलती है । प्रत्येक योनि तथा पदार्थ अपने आप में एक और अद्वितीय होता है, अतः उसका नाम (शब्द) भी एक ही होता है । यह आदि भाषा समयांतर में विकृत हो जाती है क्योंकि मानव स्वभावतः प्रकृत और विकृत दोनों प्रकार का है और मानव की विकृति भाषा की विकृति का कारण है । जिन मनुष्यों में प्रकृत गुण सुरक्षित रहते हैं वे ही आदि प्रकृत भाषा का दर्शन या पुनर्दर्शन कर सकते हैं और वे ही अवस्था-विशेष में दैवी बुद्धि के आधार पर उसका

पुनर्निर्माण कर सकते हैं । इस मत के समकक्ष अरस्तू का मत यह था कि किसी भी वस्तु या प्रक्रिया का जो भी नाम है उसके पीछे कोई दैवी सत्य नहीं केवल सामाजिक सत्य है । समाज के अंदर प्रचलित भाषा और भाषार्थ के संबंध का आधार केवल सामाजिक मान्यता है । भाषा के परिवर्तन का नाम विकास है, विकृति नहीं । प्लेटो दार्शनिक थे और अरस्तू वैज्ञानिक । प्लेटो गुरु थे, अरस्तू शिष्य, और गुरु-शिष्य के इस स्वच्छंद दर्शन की परंपरा आज तक यूरोप में चल रही है । वहां पर दर्शन का रूप बदलकर साइंस-प्रधान हो गया है ।

भारत में भाषा-स्रोत और भाषा-विकास पर आदिकाल से विचार होता रहा है । यहां भाषा अर्थात् शब्द को ब्रह्म कहा गया है और गीता में भी उसको अक्षरोद्‌भवम् कहा गया है । ऋक्, साम, यजुः और अथर्व को अक्षर ब्रह्म का निःश्वसित रूप माना गया है जिसका अवतरण सृष्टि के आदि में चार आदि ऋषियों के आत्मा में हुआ माना गया । मंत्रों के साथ जिन देवताओं और ऋषियों के नाम जुड़े हैं वे उन मंत्रों के विषय और द्रष्टा माने गए हैं । इस मान्यता के अनुसार हम कह सकते हैं कि संपूर्ण ज्ञान और संपूर्ण भाषा आदि सृष्टि में मानव को दे दिया गया था और भाषा का समस्त इतिहास उसी संपूर्ण और इतिहासातीत ज्ञान का देश-काल-सापेक्ष दर्शन मात्र है ।

भाषा के इस विकास के परिप्रेक्ष्य में शब्द और अर्थ का जो संबंध है उस संबंध के लिए प्रमाण क्या है ? इस प्रमाण की खोज दो प्रकार से की गई है : शब्दार्थ संबंध का एक आधार है आंतरिक दर्शन । यह मान्यता प्लेटो की मान्यता के समकक्ष बनती है । दूसरा आधार है लोकतः जिसकी व्याख्या महर्षि पतंजलि ने महाभाष्य में की है । आंतरिक दर्शन और लोकतः शब्दार्थ संबंध इन दोनों का समन्वय भर्तृहरि के मतानुसार परा और वैखरी भाषा के नैसर्गिक संबंध के माध्यम से होता है । परा तो सत्यम् वृहद ऋतम् से अपेक्षा रखने वाली मौन भाषा है जो अचेतन और धृतिमनस् के पटल से शनैः-शनैः साधना मार्ग से अवचेतन से होती हुई कुछ अंश में पश्यंती और मध्यमा से छन-छनकर बैखरी के रूप में मुखरित होती है । यही वैखरी समाज की धरोहर है । इसका प्रवाह-स्रोत तो परा है और प्रवाह रूप वैखरी इतिहास के सामाजिक स्मृति-कोष में सुरक्षित रहता मानव-मानस और उसके परिवेश में विकसित होता रहता है । यही सामाजिक रूप हमारी चेतना की अभिव्यक्ति का माध्यम और सामाजिक संचार का आधार है ।

प्रश्न : भाषा के ब्रह्मनिष्ठ, अंतर्दृष्ट समाज-मुखरित रूप और समाज-सर्जित रूप का हमारी भाषा समस्या से क्या संबंध है ? इस प्रश्न का उत्तर हमें कुछ और प्रश्नों के उत्तर के माध्यम से ढूंढना पड़ेगा । भाषा के स्वरूप के संबंध में हमारी जो मान्यता है क्या वह हमारे वैयक्तिक और सामूहिक कार्यकौशल का किसी दिशा-विशेष में निदेश करती है ? क्या वह दिशा-विशेष हमारे कार्यकौशल के कारण किन्हीं विशेष परिवेश या परिस्थितियों का निर्माण करती है ? क्या उन परिस्थितियों के संदर्भ में हमारा सामूहिक काम किसी विशेष भाषा का सर्जन या निर्माण करता है ? क्या वह भाषा किन्हीं विशिष्ट सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक आदर्शों का प्रतीकात्मक संकेत है ? यदि है तो क्या इस सांस्कृतिक आदर्श का किसी

और भाषा या संस्कृति से टकराव हो सकता है ? यदि हो सकता है तो कौन-सी भाषा को किस दिशा में विकास की अपेक्षा है और वह विकास कैसे हो ? ये सारे प्रश्न भारत और इंग्लैंड के सांस्कृतिक टकराव के संदर्भ में किए गए हैं और अंग्रेजी और भारतीय भाषाओं के तथाकथित अंतर को सामने रखकर आज की आवश्यकताओं के अनुसार भारतीय भाषाओं, विशेषकर हिंदी के विकास के संबंध में किए गए हैं ।

मनुष्य की चेतना अपने भीतर और बाहर के संसार में घूमती-घूमती अपने विचारों, इच्छाओं और भावनाओं की अभिव्यक्ति के लिए भाषा की खोज में लगी रहती है और अपनी परंपरागत भाषा का पुनरावर्तन या प्रवर्तन करती रहती है । किसी भी परिवेश और परंपरा में जो भी भाषा हो वही वहां के समाज के लिए पर्याप्त होती है । प्रारंभ में तो संकेत और कतिपय शब्दों के मेल से ही काम चल सकता है । उदाहरणार्थ, कोई यह कहके काम चला सकता है कि 'इसे वहां रख दो' । दूसरा शायद यह कहे कि 'इस कप को उठाकर उस मेज पर रख दो' । पहले व्यक्ति को संकेत के कारण कप और मेज कहने की आवश्यकता ही नहीं पड़ी क्योंकि कहने वाला, सुनने वाला, कप और मेज सब पास ही थे । दूसरे को 'इस कप' और 'वहां मेज पर' कहने की आवश्यकता पड़ी । यदि वह बाहर बैठा होता और कप और मेज अंदर कहीं होते तो संकेत काम ही न देता । उसे अपनी बात संकेत के बिना केवल शब्दों में ही कहने की आवश्यकता होती । इसका अर्थ यह हुआ कि बोलने वालों का जितना निकट संपर्क होगा और छोटे परिवेश में संपर्क होगा उसी सीमा तक उनकी भाषा का उनकी सीमा के अंदर विकास होगा । किंतु उस विकास को उनके संदर्भ में कम या अधिक कहना उचित नहीं होगा क्योंकि वह भाषा उनके लिए पर्याप्त है । उनका जीवन-परिवेश, परंपरा और भाषा सब स्वयं-संपन्न हैं । कम या अधिक विकास तो सापेक्षता के संदर्भ में कहा जाएगा । 'इस' या 'उस' अथवा 'इस कप' और 'उस मेज' के स्थान पर 'चाय का कप', सेंटर टेबल और डाइनिंग टेबल तो वहां कहने की आवश्यकता होगी जहां वक्ता और श्रोता इन दोनों के बीच और वस्तु और स्थान-विशेष के बीच में अंतर है । यही अंतर, वक्ता, श्रोता और वस्तु-विशेष का नया या विस्तृत परिवेश है । इस विस्तृत परिवेश की भाषा निकट-संपर्क परिवेश की भाषा से अधिक विकसित कही जाएगी । किंतु थोड़े या अधिक शब्दों के कारण कोई भी भाषा छोटी या बड़ी, अच्छी या बुरी, विकसित या अविकसित अपने आपमें नहीं होती क्योंकि दोनों भाषाएं (परिमित और अपरिमित) अपने-अपने क्षेत्र या परिवेश में अपने-अपने समाज के अनुरूप पूरा काम करती है । भाषा का काम है अभिव्यक्ति और संचार । यह काम जो भी भाषा जितने भी शब्दों से कर ले वही अपने आप में विकसित होती है और वही अपने परिवेश और समाज की आवश्यकताओं के साथ-साथ घटती-बढ़ती है । उदाहरणार्थ, दुनिया में कई भाषाएं ऐसी हैं जहां रंगों के तीन ही नाम हैं, साइंस में सात नाम हैं । रंगों के विषय में कहीं पर तीन शब्दों से और कहीं पर सात शब्दों से काम चलता है । कहीं पर सैकड़ों रंगों का चार्ट ही सामने आ जाता है और केवल संकेत या संख्या से काम लिया जाता है और इन सैकड़ों के बावजूद भी मियां-बीवी में झगड़ा रहता है । कौन-सी

भाषा विकसित है और क्यों और किसलिए ? यह प्रश्न अनोखा और महत्त्वपूर्ण है ।

जब हम किसी भाषा को दूसरी भाषा की अपेक्षा विकसित या अधिक विकसित कहते हैं तो वास्तव में दोनों भाषा-भाषी समाजों की तुलना कर रहे होते हैं । किसी भी भाषा के अपेक्षाकृत विकसित होने का अर्थ यह होता है कि उसे बोलने वाले समाज की स्थिति, परिस्थिति, परिवेश, संस्कार, विचार, आशा, आकांक्षा, संक्रिया, प्रक्रिया, साधन, साध्य ये सब दूसरे समाज की अपेक्षा जटिल, विविध, संदिग्ध और वैयक्तिक होते हैं । सीधे-सादे समाज का काम लक्षणा से चल सकता है । यह सच है यह झूठ, यह अच्छा है यह बुरा, यह करो यह मत करो, ऐसा किया वैसा नहीं किया, यह करना चाहिए था वैसा नहीं करना चाहिए था, इत्यादि । टेढ़े समाज का टेढ़ा मान और टेढ़ी भाषा । जो कहना चाहिए वह कहता नहीं लेकिन कहना पड़ता है, इसलिए वही कहता है जो कहना नहीं है : जुनून में बकता है और चाहता है कि कुछ न समझे खुदा करे कोई । लक्षणा की अपेक्षा व्यंजना टेढ़ी होती है, उतनी ही संदिग्ध भी, उतनी ही विकसित भी ।

जब कोई समाज अपनी परंपरा में अपने संस्कारों के साथ अपने परिवेश में अपना जीवन जीता है या उसी परिवेश से जूझता है तो जीवन के अनुरूप अपनी परंपरागत भाषा बोलता है और उसी का विकास करता है । उसकी भाषा का विकास सहज ही उसके संस्कार, विचार, आशा, आदर्श, साधन और साध्य के अनुसार और अनुरूप होता चला जाता है । भाषा का विकास और निमार्ण ये दोनों एक ही होते हैं, विकास की अपेक्षा निर्माण की विशेष आवश्यकता महसूस नहीं होती । निर्माण की आवश्यकता वहां पर महसूस होती है जहां एक समाज का दूसरे से संपर्क होता है, संपर्क भी टकराव का रूप ले लेता है और एक समाज दूसरे पर प्रभुत्व जमा लेता है । प्रभुसत्ता-प्राप्त समाज ही यह कह सकता है कि तुम्हारी भाषा अविकसित है । इसका विकास होना चाहिए, यह वह कह भी सकता है और हो सकता है न भी कहे । हो सकता है वह अपनी राजसत्ता के साथ-साथ भाषाराज भी चलाना चाहे क्योंकि राज तो उसे अपनी ही परंपरा, साधन और साध्य के अनुसार चलाना है । भारत में पिछली कई शताब्दियों से ऐसा ही राज-समाज-टकराव होता रहा है । साथ-साथ भाषा-टकराव भी होता रहा है और उसी टकराव के कारण भाषा विकास/निर्माण की समस्या भी खड़ी हो गई या कर दी गई । आज की भारतीय भाषाओं के विकास की समस्या को समस्या के प्रारंभिक रूप से मिलाना आवश्यक है क्योंकि ऐसा करने से समाधान की दिशा में कुछ संकेत मिल सकते हैं ।

प्रारंभ में बंगाल की दीवानी या तत्पश्चात् राजसत्ता प्राप्त करने से पहले अंग्रेजी सत्ता का जब भारत में पदार्पण हुआ था तो उनका ध्येय केवल व्यापार करना था । उस समय उनका पलड़ा भारी नहीं था । हल्के पलड़े वाले को सामने वाले की भाषा, सभ्यता और शिष्टाचार का आदर करना ही पड़ता है । उस समय अंग्रेज व्यापारी तथा उनके कारिंदे भारतीय वेश-भूषा में हुक्के का सेवन भी करते थे और भारतीय भाषा बोलते थे या दुभाषिए के द्वारा बात करते थे । हर प्रकार से उन्हें भारत की भाषा, व्यापार-शैली और सामाजिक परिचर्या स्वीकार्य थी । ज्यों ही उनको राजसत्ता मिली और व्यापार से स्वर्णार्जन करना प्रारंभ किया उनका मानसिक दृष्टिकोण और भाषा

बदल गई । भारत था तो सोने की चिड़िया पर चिड़िया तो उनके कब्जे में आ गई थी । तोता पिंजड़े में होगा तो मालिक की भाषा बोलेगा । चार्ल्स ग्रांट के 1793 के संसद-प्रस्ताव से लेकर मकाले के प्रस्ताव 1835 तक एक ही रटंत : भारत में अंग्रेजी राज है तो अंग्रेजी भाषा क्यों नहीं ? हमने अपने चरित्र और बाजू के जोर से सत्ता प्राप्त की है । भारतवासी हमारे दास हैं । हम उनकी भाषा बोलें या वे हमारी ? यदि अंग्रेजी संसद् के अंग्रेजी पक्षीय और फ्रेंच विरोधी प्रस्ताव (1362) की भाषा का प्रयोग करें तो यह रटंत एक भयंकर षड्यंत्र का श्रीगणेश ही था । अंग्रेजी लागू कर दी गई, शिक्षा और शासन दोनों में । ऐसा लगता है अंग्रेजी पिला दी गई । पीने वाले पी गए और नशे में अपनी भाषा को भूले तो नहीं, वह तो चेतन और अचेतन दोनों में थी, अपितु उससे कट जरूर गए । 1947 में स्वतंत्रता-प्राप्ति के साथ हमें स्वतंत्रता के अनुरूप अपनी भाषा की आवश्यकता महसूस हुई । पूरी खींचातानी के बाद हिंदी को राजभाषा मान लिया गया और हिंदी और दूसरी भारतीय भाषाओं को राष्ट्रभाषा माना गया । आज तक हिंदी या कोई और भारतीय भाषा शिक्षा या शासन के क्षेत्र में पूर्ण रूप से प्रयोग नहीं की जा रही । कारण ? "भारतीय भाषा या भाषाएं विकसित नहीं हैं ।" उनका विकास/निर्माण किया जाना चाहिए । उनका विकास होने पर ही तो वे शासन और शिक्षा का माध्यम बनने के योग्य हो सकेंगी और योग्य होने पर ही वे प्रयोग में लाई जा सकती हैं । अन्यथा कैसे ?

चलते-चलते एक सवाल : कुछ समय पहले पंजाब सरकार ने दस दिन के भीतर शासन कार्य में पूर्ण रूप से पंजाबी को लागू करने पर गंभीर रूप से विचार किया था । प्रत्येक पंजाबी अधिकारी और नेता इस समस्या को लेकर हिल गया था और इससे जूझने लगा था । क्या पंजाब सरकार को विश्वास था कि वह दस दिन के भीतर प्रशासन की आवश्यकता के अनुसार पंजाबी का पूर्ण रूप से विकास/निर्माण कर लेगी ? अथवा क्या सरकार का विचार यह था कि भाषा चाहे पूर्ण रूप से विकसित न भी हो तो भी उसे प्रशासन-माध्यम बनाया जा सकता है ? क्या भारत की भाषा समस्या पंजाब शैली से ही सुलझेगी ? क्या आग लगने से पहले कुआं खोदने की संभावना है ? होनी चाहिए ?

भारतीय भाषा-विकास समस्या वास्तविक है या काल्पनिक ? इस प्रश्न पर दो प्रकार के दृष्टिकोण से विचार किया जा सकता है : एक सामयिक, दूसरा शाश्वत । शाश्वत दृष्टिकोण से तो प्रत्येक भाषा के विकास की समस्या वास्तविक है क्योंकि भाषा-विकास का अर्थ है चेतना का विकास और चेतना के विकास का अर्थ है व्यक्त के माध्यम से अव्यक्त की ओर बढ़ना, वह अव्यक्त जहां भाषा प्रकृति-पक्ष को लांघकर संपूर्णतया मौन में जाकर लीन हो जाती है । व्यक्त से अव्यक्त की ओर बढ़ने का रास्ता असीम है, इसलिए उस पर बढ़ते हुए भाषा कभी पूर्णतया विकसित होगी ही नहीं, वह विकासशील ही रहेगी और इसी कारण उसके विकास की समस्या सदा वास्तविक रहेगी । अतः विकास की समस्या पर हम शाश्वत दृष्टिकोण से केवल दार्शनिक स्तर पर विचार कर सकते हैं, किसी विशेष सामाजिक संदर्भ में नहीं । हमें तो अपनी परिस्थितियों के संदर्भ में ही अर्थात् सामयिक ऐतिहासिक दृष्टिकोण से ही विचार करना पड़ेगा ।

सामयिक, सामाजिक या ऐतिहासिक दृष्टिकोण से विचार करें तो हम कह सकते हैं कि समस्या वास्तविक भी है और काल्पनिक भी । वास्तविक तो इसलिए कि पिछले दो सौ वर्ष से सरकारी कागजों में चलती आई है । दूसरा कारण यह है कि इस समस्या को अंग्रेजी के सापेक्ष करके देखा गया है । और काल्पनिक इसलिए कि 1362 की अविकसित अंग्रेजी के बारे में ही जब यह खड़ी नहीं हुई तो भारतीय भाषाओं के विषय में आज कैसे खड़ी हो गई ?

जब से भारत में अंग्रेजी को लागू करने का प्रस्ताव पास किया गया तभी से यह कहा गया कि भारत की भाषाएं अविकसित हैं । चार्ल्स ग्रांट ने तो उनको पराजित लोगों की जंगली बुड़बुड़ाहट ही कह डाला । अपने ढंग से वह ठीक था : संसार में सबसे बड़ा पाप है गरीबी, सबसे बड़ा अभिशाप गुलामी, सबसे बड़ी दुर्घटना पराजय । पराजित को विजयी जो कह दे वही चलता है । किंतु ग्रांट ने यह भी कहा कि यदि कुछ भारतीय अंग्रेजी पढ़ लें तो वे ही फिर अपनी भाषा के माध्यम से भारतीयों को पढ़ा सकेंगे । इसका अर्थ यह हुआ कि भारतीय शिक्षकों को द्विभाषी होना चाहिए था । भारतीय भाषाओं को सक्षम बनाने के लिए समय चाहिए था करीब पच्चीस वर्ष । चार्ल्स ग्रांट तो अंग्रेजी निर्यात में सफल न हो सके, उनके धर्मपुत्र (गॉडसन) मकाले सफल हुए । सारे भारत में अंग्रेजी भाषा और साहित्य के माध्यम से ईसाइयत फैलाने का समय उन्होंने माना 25-30 वर्ष । सारे भारत में सभी भाषाओं में बाइबल आसानी से छप सके और पढ़ी जा सके इसलिए उनके संबंधी चार्ल्स ट्रेवेल्यन ने 1837 में यह प्रयास किया कि भारतीय भाषाओं को एक ही लिपि में लिखा जा सके तो अच्छा हो । प्रयास अपने आपमें सराहनीय था पर सफल नहीं हुआ । मकाले महोदय ने भी यही कहा कि भारतीय भाषाएं तो भाषाएं ही नहीं हैं, पर उन्होंने भी उनके विकास पर बल दिया और लगभग पच्चीस वर्ष का समय उनके विकास के लिए पर्याप्त समझा । मकाले महोदय के पश्चात् बंगाल और महाराष्ट्र में बंगला तथा मराठी के माध्यम से पढ़ाने का प्रयास भी किया गया, लेकिन 1844 में सारी सरकारी नौकरियां केवल अंग्रेजी पढ़े-लिखे लोगों के लिए ही रख दी गईं, इसलिए अंग्रेजी एक व्यवसाय-भाषा बन गई और सारी भारतीय भाषाएं अपना रहा-सहा वर्चस्व भी खो बैठीं । 1854 के चार्ल्स वुड के शिक्षा-प्रस्ताव के अनुसार भी भारतीय भाषाएं विकसित नहीं थीं और उकने विकास के लिए वही पच्चीस वर्ष के समय का सुझाव दिया गया था । विस्तार से हम पहले ही बहुत कुछ लिख चुके हैं । प्रारंभ से लेकर आज तक 1882, 1901-2, 1917-19, 1927-28, 1948-64, 1983 और 1986 तक सरकार, सभी आयोग, अधिकारी, प्रख्यात शिक्षक यही कहते रहे कि भारतीय भाषाएं विकसित नहीं हैं, उन्हें विकसित करके शिक्षा और शासन का माध्यम बना देना चाहिए और उनके विकास के लिए समय चाहिए । समय कितना ? गांधी ने कहा, केवल एक वर्ष । विधान में कहा गया, पंद्रह वर्ष । 1964 के शिक्षा आयोग ने कहा, दस वर्ष । दो सौ वर्ष हो गए पर 25, 15 और 10 वर्ष पूरे नहीं हुए । अतः यदि फाइलों को देखा जाए तो समस्या वास्तविक है ।

भारतीय भाषाएं यदि विकसित नहीं हैं तो क्यों ? प्रारंभ में जिन लोगों ने भारतीय भाषाओं को अविकसित कहा था वे भारतीय भाषाएं तो जानते ही नहीं थे । उनके बारे में उन्होंने या तो

कुछ ईसाई मिशनरियों से सुना था या कुछ अफसरों की रिपोर्टों से सुनी-सुनाई बातों पर विश्वास कर लिया था । चार्ल्स ग्रांट भारत में कई वर्ष रहे थे और उनका संपर्क मिशनरी होने के नाते अधिकतर पिछड़े लोगों से ही था । लार्ड मकाले का संपर्क भी अंग्रेज अफसरों से ही था । इनके अतिरिक्त चाहे हंटर महोदय हों, चाहे कर्ज़न, चाहे रैले, चाहे लार्ड साइमन या फिर फिलिप हार्टोग, सबका संपर्क भारतीय भाषा या साहित्य से सीधे रूप में नहीं था और रिपोर्टों से छंटा हुआ केवल वही और उतना ही ज्ञात होता था जितना कि रिपोर्टर देना चाहता था । इसके अतिरिक्त भारतीय समाज से उनका यदि कोई सीधा संपर्क हो पाता था तो यहां की देवी-देवताओं की लकड़ी-पत्थर की मूर्तियों के संबंध में, जाति-बिरादरी का घिनौना, बिगड़ा हुआ रूप, छुआछूत, हिंदू-मुसलमान के बीच की दीवार, सती-प्रथा, देवदासी के रूप में व्यभिचार, अंधविश्वास, जादू-टोना इत्यादि और इन्हीं के बारे में बढ़ी-चढ़ी रिपोर्टें । शासन-सत्ता से संपन्न अंग्रेज अधिकारी अपनी शक्ति को मनस्विता का मानक मान बैठा और भारत, उसके धर्म, परंपरा, साहित्य भाषा इत्यादि के बारे में एकतरफा निर्णय दे बैठा । उस निर्णय को चुनौती देने के लिए उन्नीसवीं शती के उत्तरार्ध में दयानन्द, विवेकानन्द, कांग्रेस इत्यादि व्यक्ति और संस्थाएं खड़े तो हुए, पर उनसे पहले प्रारंभ में तो कोई शक्ति थी ही नहीं और अंग्रेज शासन ने जिन तथ्यों के आधार पर भारत को पिछड़ा सड़ियल समाज कहा था वे तथ्य तो उन्हीं के मत का समर्थन कर रहे थे । समाज, परंपरा, साहित्य, भाषा, ये एक ही सामूहिक और संपन्न जीवन का अंग तो होते हैं । पिछड़े समाज का धर्म, साहित्य, भाषा परंपरा सभी कुछ तो पिछड़ा हुआ दीखा । इस समाज या भाषा के पुनरुद्धार की उनको क्या आवश्यकता थी । यदि उन्होंने पुनरुद्धार की बात की भी तो अपने ढंग से : धर्म का पुनरुद्धार ईसाइयत, भाषा का पुनरुद्धार अंग्रेजी, राष्ट्र का पुनरुद्धार कॉमनवेल्थ की सदस्यता, बेहतर ब्रिटिश साम्राज्य की सदस्यता, सभ्यता का पुनरुद्धार अंग्रेजी शिक्षा और शिष्टाचार, मान्यताओं का पुनरुद्धार पश्चिमीय मूल्य —यहीं गलती खा गए क्योंकि स्वतंत्रता की मांग इन्हीं पश्चिमी मूल्यों का अंग तो थी ।

वास्तव में भारत की भाषाएं भारतीय परिवेश में जन्मी और पनपी थीं । यहां पर चेतन और परिवेश (प्रकृति) का संबंध पुत्र और मां का था । हमने प्रकृति को, शक्ति को मां माना था और शिव और शक्ति दोनों की आराधना की थी । मां की आराधना आशीर्वाद के लिए की जाती है और प्रसाद का एक कण भी बहुत होता है क्योंकि उसका मूल्य आध्यात्मिक रूप में आंका जाता है न कि भौतिक रूप में । हमारे परिवेश में मां प्रकृति की आराधना न प्रेयसी के रूप में की गई न जेय के रुप में । हम मां की गोद में रहते-रहते अध्यात्म और अधिदैव की गहराइयों में उतरते चले गए । अधिभूत के क्षेत्र में रहे तो पर केवल भोग के साथ अपवर्ग को रखते हुए, लौकिक सुख और पारलौकिक आनंद दोनों का संतुलन रखते हुए । इस आध्यात्मिक, मनोवैज्ञानिक और भौतिक साहित्य की भाषा हमारे पास थी तो, पर वह वैदिक काल के बाद दब गई थी और दबी ही पड़ी रही । बुद्ध का जीवन-प्रवाह, जैनों का साम्यवादी विज्ञान और आत्मविश्वास, शंकर का ब्रह्म और माया का समन्वय, अशोक की अहिंसा और गुप्तों का वैभव यह सब तो मध्यकालीन पराजयों

में ध्वस्त हो गया था और पंडितों की पोथी के पन्नों के साथ गल गया था । ऐसी जर्जर अवस्था में समाज का एक अंग कटकर अलग हो गया जिसने घर तो यहां बनाया पर मंदिर बाहर, जर्जरित समाज भी भग्नावस्था में । ऐसी अवस्था में यदि अंग्रेजी सत्ता के साथ अंग्रेजी भाषा और साहित्य का जीवन-संदेश मिला तो संजीवनीपरक ही था । डूबते को तिनके का सहारा ! डूबने वाले तो चले गए, जिन्हें तिनके मिल गए वे तैर गए और बच गए । इन्हीं तैरने वालों का एक वर्ग खड़ा करने का षड्यंत्र मकाले और उनके साथियों ने बनाया था । वह वर्ग भी बन गया । अंग्रेजी भाषा और सत्ता एक नया संदेश लेकर आई थी, वह संदेश इस वर्ग में घर कर गया ।

वह संदेश क्या था ? अध्यात्म का नहीं था । अध्यात्म तो इतिहास के थपेड़े खाकर अकर्मण्यता में बदल चुका था । उधर से ईसाइयत के माध्यम से कोई अध्यात्म का संदेश भी आया तो वह अध्यात्म भी कर्मनिष्ठ था, ब्रिटिश साम्राज्य के संदेश जैसा । वास्तविक संदेश तो कर्मठता का था पर भारत के लिए इस कर्मठता की दिशा थी ब्रिटिश सेवा । सामयिक दिशा कोई भी हो, आधारभूत संदेश तो प्रकृति से संघर्ष का ही था । पश्चिम में प्रकृति भयावह रूप में प्रकट होती है और जीने के लिए उससे संघर्ष करना पड़ता है । वहां प्रकृति की साधना वैयक्तिक और सामूहिक रूप में न मां के रूप में की गई, न प्रेयसी के रूप में (बसंत को छोड़कर), बल्कि जेय के रूप में की गई । इसलिए उनकी सबसे बड़ी उपलब्धि वेदांत नहीं, साइंस है । साइंस के साथ टेक्नोलजी और सत्ता शक्ति । तत्पश्चात युद्ध और साम्राज्यवाद, वैयक्तिक युद्ध समाज के साथ अपने अधिकारों के लिए, वर्गयुद्ध संघशक्ति के लिए और राष्ट्रीय युद्ध साम्राज्य के लिए और यह सब लौकिक सुखभोग के लिए । परलोक या अपवर्ग ? पश्चिम में पुनर्जन्म तो होता ही नहीं । यह विचारने की बात है कि लोक-परलोक का संतुलन, भोगापवर्ग का संतुलन, यह सब पुनर्जन्म के विश्वास के साथ बंधा होता है, अन्यथा कल किसने देखा ? अंग्रेजी से जो भाषा, सभ्यता और संस्कृति मिली वह कर्मठता, सत्ता, शक्ति, लोक, भोग और राज-व्यवस्था का संदेश लेकर आई । यह सब उस समय की चेतना और भाषा में था नहीं । भारतीय भाषाएं पिछड़ी हुई तो थीं ही ।

आज का अंग्रेजीविद् समाज भारत के ठेठ देसी समाज से काफी हद तक कट गया है । शहर-निवासी, सरकार-सेवी, राजनीति-खिलाड़ी, राजनायक यह समाज भारत के अशिक्षित, ग्रामीण, गरीब, बेरोजगार, सगंध समाज से कटा हुआ है लेकिन फिर भी उस विशाल जनसमूह का नेतृत्व करता है । भारतीय भाषाओं का पक्षधर समाज भी कुछ कारणों से उनका पक्षधर है । कई लोग भारतीय भाषाओं के माध्यम से अपनी जीविका चलाते हैं । मात्र व्यवसाय ही यदि हिंदी या किसी और भाषा के पक्ष में दलील हो तो उसका बल कम हो जाता है । बहुत सारे लोग जो भारतीय भाषाओं का बुद्धिपरक पक्ष लेते हैं वे संस्कार रूप से अंग्रेजी सभ्यता के अनुयायी हैं । ऐसे लोग कम हैं जो बुद्धि और संस्कार दोनों से भारतीय भाषाओं के प्रेमी हैं । अंग्रेजीविद् समाज आम तौर पर भारतीय भाषाओं से अधिक जानकारी नहीं रखता । कितने ही सरकारी और गैरसरकारी संस्थान भारतीय भाषाओं के क्षेत्र में काम कर रहे हैं । किंतु अंग्रेजी और भारतीय

भाषाओं के पक्षधरों के बीच अधिक आदान-प्रदान नहीं है । परिणाम यह होता है कि भारतीय भाषाओं को आज भी उतना ही अविकसित कह दिया जाता है जितना बीसवीं शती के प्रारंभ में या 1947 के आस-पास । किंतु हम सभी को यह ज्ञात होना चाहिए कि परंपरा और परिस्थितियों के बीच नई चेतना के अनुरूप भारतीय भाषाओं का विकास होता रहा है । अंग्रेजी भाषा, साहित्य, विज्ञान, टेक्नोलजी और पाश्चात्य सामाजिक चेतना हमारी नई परिस्थितियों का अत्यंत महत्त्वपूर्ण अंग हैं और भारतीय भाषाओं और भारतीय मानस् ने इनके योगदान को स्वीकारा है । परिणाम-स्वरूप भारतीय भाषाओं का विकास हुआ है । भाषा-निर्माण और भाषा-प्रयोग इस विकास के महत्त्वपूर्ण आयाम रहे हैं ।

विकसित भाषा किसको कहेंगे ? जो परिवेश और नई चेतना के अनुरूप अपनी संचार-भूमिका को समाज के नवीन संदर्भ में भली भांति निभा सके । क्या भारतीय भाषाएं इस भूमिका के लिए सक्षम हैं ? इस प्रश्न का उत्तर देने से पहले या तो हमें भारतीय भाषाओं की तैयारी का पिछले दो सौ वर्ष का इतिहास देखना चाहिए, या अंग्रेजी के राजभाषा बनने से पूर्व समय की अंग्रेजी की ही स्थिति को देखना चाहिए । दो सौ वर्ष के इतिहास के दौरान भारतीय भाषाओं को सक्षम बनाने के संकल्प-विकल्पों का अध्ययन हम कर चुके । यदि दो सौ वर्ष में इन भाषाओं को सक्षम नहीं बना पाए तो अब क्या बनाएंगे ? तो क्या भारतीय भाषाएं शासन और शिक्षा में माध्यम के रूप में आ ही नहीं पाएंगी ? आना चाहिए और बिना विलंब के आना चाहिए । मात्र एक संकल्प की आवश्यकता है । इंग्लैंड और अंग्रेजी के इतिहास को देखते हुए हम यह संकल्प कर सकते हैं, कर सकते थे, 1947 में ही ।

किसी भाषा का सक्षम होना उसके प्रयोग से संबंध रखता है । संदर्भ में भाषा का प्रयोग होता है और संदर्भ से पहले भाषा का तैयार होना न तो आवश्यक है न संभव । यदि ऐसा होता तो भाषा की एक प्रयोगशाला बनाने की आवश्यकता पड़ती । ऐसी प्रयोगशाला न बन सकती है न बनाई जाती है । वास्तव में भाषा के निर्माण की यदि कोई प्रयोगशाला है तो वह है वास्तविक जीवन जिसमें भाषा-भाषी उसका प्रयोग करते हैं । भाषा की कृत्रिम प्रयोगशाला बन ही नहीं सकती क्योंकि जीवन के समकक्ष कोई प्रयोगशाला होती ही नहीं । अतः महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह नहीं है कि भाषा सक्षम है या नहीं, प्रश्न यह है कि भाषा सक्षम कैसे बनती है ? एक स्वतंत्र राष्ट्र होने के नाते हमारा दायित्व है कि हम उदासीनता या चपलतावश सक्षम शब्द के साथ न खेलें बल्कि अपनी भाषाओं को जीवन रूपी प्रयोगशाला में लाकर उनका विकास करें और होने दें । भाषा कभी भी दवा की तरह वैज्ञानिक प्रयोगशाला में तैयार नहीं की जाती । न ही वह किसी पूर्ववर्ती समस्या का समाधान होती है । भाषा क्षेत्र में तो समस्या और समाधान समवर्ती होते हैं । जैसे-जैसे नए-नए आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक, वैधानिक, शैक्षणिक या अनुसंधानपरक अवसर अस्तित्व में आते हैं उनकी परिभाषा साथ-साथ करनी पड़ती है । जैसे-जैसे भाषा संबंधी समस्याएं खड़ी होती हैं उनका समाधान (शब्दरूपी) तत्काल खोजा जाता है । कोई भी भाषा पूर्णतया सक्षम न है, न होगी, न हो सकती है क्योंकि भाषा-संदर्भ और जीवन समस्याओं का अंत संभव है ही नहीं । यदि भाषा की

आवश्यकताओं और अपेक्षाओं का अंत नहीं है तो भाषा कभी भी संपूर्ण कैसे हो सकती है ? सक्षमता और सफलता का मंत्र केवल एक है : प्रयोग । भाषा का निर्माता केवल प्रयोगकर्ता है—चाहे वह संसद् भवन में हो, चाहे विश्वविद्यालय में, चाहे सब्जी बाजार में ।

अंग्रेजी को राजभाषा बनाने का प्रस्ताव जब अक्तूबर 1362 में किया गया था तो यह प्रश्न नहीं उठाया गया था कि अंग्रेजी सक्षम है या नहीं । अंग्रेजी लागू भी कर दी गई थी जनवरी 1363 से । तीन मास के अंदर भाषा का विकास न किया जा सकता था, न किया गया । उस समय अंग्रेजी जनसाधारण की भाषा थी और जनसाधारण जीवन की आवश्यकताओं से जूझता है, उसके लावण्य से खेलता नहीं । उसी जनसाधारण के लिए उसी की भाषा को राजभाषा बना दिया गया । जब प्रशासन संबंधी समस्याएं ही उनकी थीं तो भाषा उनकी क्यों नहीं ? यह आश्चर्य की बात नहीं है क्या कि उस समय और आज तक की अंग्रेजी में भोजन के संबंध में ब्रेड और बटर के अतिरिक्त कोई शब्द देसी है ही नहीं, सब बाहर के हैं । जैसे-जैसे व्यंजन अंग्रेजी जीवन में आए, उनसे संबद्ध शब्द भी आते गए । यही स्थिति शिक्षा और शासन संबंधी शब्दों की है । उस समय अंग्रेजी का उच्चारण और स्पेलिंग दोनों ही अनिश्चित थे । एक-एक शब्द के कई उच्चारण और कई स्पेलिंग थे । जैसे शब्द लिखा जाता था वैसे बोला भी नहीं जाता था । उच्चारण, स्पेलिंग, व्याकरण, शब्दावली सबके सब कई सौ वर्ष तक विकसित होकर स्टैंडर्ड की ओर चलते गए । 1363 के बाद शेक्सपियर और मिल्टन के बावजूद 1700 तक अंग्रेजी को अविकसित ही समझा जाता रहा । रिनेसां और सत्तरहवीं-अठारहवीं शती में नई-नई आवश्यकताओं के अनुसार शब्दावली इत्यादि का निर्माण किया जाता रहा । वास्तव में आज भी अंग्रेजी का विकास हो रहा है क्योंकि जो नये विचार, समस्या प्रक्रिया, तथ्य, तत्त्व, वस्तु, यंत्र इत्यादि आज अस्तित्व में आ रहे हैं वे पहले थे ही नहीं । जब विषय-वस्तु ही नही थी तो शब्द कहां से आता ? इसी प्रकार यदि भारतीय भाषाओं का प्रयोग शिक्षा, अनुसंधान और शासन के क्षेत्र में किया जाए तो आवश्यकतानुसार भाषा भी बनती चली जाएगी । भाषा सक्षम है, उसके विकास का माध्यम है प्रयोग, और प्रयोग का मुहूर्त है आज और अभी । प्रयोग में आने के बाद भाषा अपना रास्ता स्वयं बनाएगी, चाहे हिंदी हो या कोई और भारतीय भाषा ।

इंग्लैंड में जैसे ही अंग्रेजी राजभाषा बनी, फ्रेंच का राजप्रभुत्व समाप्त हो गया और सारा ब्रिटिश समाज, चाहे कोई ब्रिटेन में जन्मा हो, चाहे बाहर से आया हो, मानो एक भाषा-भाषी परिवार बन गया । एक भाषा बोलने का वास्तविक और व्यावहारिक अर्थ है संवाद और संचार । संवाद और संचार यदि सुचारु रूप से होता है तो मानसिक अर्थात् भावात्मक एकता भी आ जाती है और समूचा राष्ट्र एक हो जाता है । भारत में भी पूर्ण एकता केवल संवाद और संचार-माध्यम से ही आएगी और वह संवाद-संचार अंग्रेजी के माध्यम से नहीं होगा, केवल भारतीय भाषाओं के माध्यम से होगा । अंग्रेजी के माध्यम से देश एक प्रशासनिक इकाई तो बन गया, पर उसका सामाजिक विभाजन हो गया । जनता और राष्ट्र की एकता के लिए जनसंवाद और जनसंचार को ही अपनाना होगा । वह जितना शीघ्र हो सके उतना ही अच्छा रहेगा ।

34

भाषा और संचेतस् : जागो तभी सवेरा

सावित्री महाकाव्य के प्रारंभ में श्रीअरविंद लिखते हैं—'इट वाज़ द अवर बफोर द गाड्ज अवेक' । अंग्रेजी के इन साधारण शब्दों में श्रीअरविंद ने ब्राह्म मुहूर्त की अभिव्यक्ति की है । यदि हमारे संस्कार प्राकृत और मौलिक हैं तो हम कोई भी भाषा अपना लें संस्कार अपने लिए स्वयं शब्द चुन लेंगे । श्रीअरविन्द, रवीन्द्र ठाकुर, सरोजिनी नायडू इत्यादि के संस्कारों और विचारों ने अंग्रेजी भाषा को अपनी सहचरी का रूप दे दिया और वे इन शब्दों से वैसे ही खेले जैसे मां सरस्वती के बगीचे में बच्चे खेलते हैं ।

भारत की स्वतंत्रता का उदय 15 अगस्त 1947 को ब्राह्म मुहूर्त में हुआ था । हमारे सेनानी उस रात सोए नहीं थे क्योंकि उन्हें स्वतंत्रता की उषा का स्वागत करना था । इसीलिए नेहरू जी ने अपने स्वातंत्र्य वक्तव्य को नाम दिया नियति से भेंट । उन्होंने भरे सदन के सामने तालियों की गड़गड़ाहट में कहा कि सदियों से सोई देश की आत्मा आज जागी है, और जागी है तो बोलेगी भी । भारत की स्वतंत्रता बोलेगी तो शब्द भी स्वयं चुनेगी । किंतु नेहरू जी की चेतना उनकी संचेतना पर हावी हो चुकी थी । उनकी अंग्रेजी शिक्षा और भाषा ने उनके संस्कारों को अपने रंग में रंग दिया था । श्रीअरविंद और रवीन्द्र ठाकुर का चिंतन मौलिक रूप में भारतीय था, उनकी भाषा अंग्रेजी थी । नेहरू जी का चिंतन और भाषा दोनों अंग्रेजी थे । नेहरूजी की 'नियति से भेंट' भारतीय अंग्रेजी के उत्कृष्ट उदाहरणों में से एक है । वह हमारे हृदय को छूती भी है किंतु जन-गण-मन या रवीन्द्र की स्वतंत्रता नीराजना की तरह हृदय की गहराइयों में नहीं उतरती ।

जब कोई देश स्वतंत्र होता है तो अपना स्वत्व वापस लेता है और उसी को अपनी पहचान बनाता है । हमारा स्वत्व है हमारी आत्मा, हमारे संस्कार, जो मन, वचन और कर्म में अभिव्यक्त होते हैं । राष्ट्रीय स्तर पर वह स्वत्व है संस्कृति, उसका सामाजिक रूप है सभ्यता, उसकी अभिव्यक्ति है भाषा । इतिहास हमारे स्वत्व का, हमारी संस्कृति, सभ्यता और भाषा का प्रवाह है । परंपरा हमारे इतिहास का सूत्र है । हम स्वत्व की खोज करते हैं तो भाषा, सभ्यता, संस्कृति और परंपरा के द्वारा करते हैं ।

फिलिपीन देश ने स्वतंत्रता प्राप्त की तो अपने स्वत्व को पहचाना । पराधीनता के समय में वहां अंग्रेजी वैसे ही छाई हुई थी जैसे भारत में । फिलिपीन की जनता और वहां के प्रबुद्ध वर्ग ने स्वतंत्र होने पर सबसे पहले यह सोचा कि अंग्रेजी और अंग्रेजियत को कैसे बाहर निकाला जाए । वहां 1989 में फिलिपीन विश्वविद्यालय की केंद्रीय संचालन समिति ने यह घोषणा कर दी

कि फिलिपीन भाषा को शिक्षा माध्यम बनाया जाएगा । वहां की जनता एवं प्रबुद्ध वर्ग समझ गए कि अंग्रेजी के रहते देश की मानसिकता नहीं बदलेगी और परिणामस्वरूप जनता और शिक्षित वर्ग के बीच की खाई बढ़ती चली जाएगी । राष्ट्र की पहचान है अपनी संस्कृति, सभ्यता और भाषा ।

हमने यह माना अवश्य था कि स्वतंत्र भारत की भाषा अंग्रेजी नहीं होगी । गांधी जी तो शिक्षा और शासन के क्षेत्र में एक दिन में ही परिवर्तन कर देने के पक्ष में थे । नेहरू जी ने भी कई बार ऐसा ही कहा था । इन दोनों महान नेताओं ने अंग्रेजी का विकल्प भी सुझाया था । विकल्प था हिंदी । हिंदुस्तानी । हिंदुस्तानी शब्द केवल गांधी जी का ही दिया हुआ नहीं था, यह शब्द अंग्रेजी काल से ही चला आ रहा था । स्वतंत्रता-प्राप्ति के समय देवनागरी लिपि में हिंदी को देश की राजभाषा माना गया था और अंग्रेजी से हिन्दी में फेरबदल के लिए 15 वर्ष का समय नियत किया गया था । उस समय देश की चौदह भाषाओं को राष्ट्रभाषा माना गया था जो संख्या बढ़कर आज 18 हो गई है । देश के विद्वानों और बुद्धिजीवियों ने भी हिंदी एवं क्षेत्रीय भाषाओं का समर्थन किया था । डा० राधाकृष्णन्, डा० आयंगर, डा० दौलत सिंह कोठारी एवं समय-समय पर देश की शिक्षा-नीति के कर्णधारों ने अंग्रेजी का विरोध किया था और देश की अपनी भाषा/भाषाओं के माध्यम से शिक्षा देने का समर्थन किया था । सभी ने यह सिफारिश भी की थी कि दस या पंद्रह वर्ष के समय में अंग्रेजी को शिक्षा और शासन माध्यम रूप में समाप्त कर दिया जाए और उसके स्थान पर हिंदी तथा क्षेत्रीय भाषाओं को लागू कर दिया जाए । 1947 से लेकर 1968 तक उन्नीस वर्ष के समय में हम केवल यह कर पाए कि ब्राह्ममुहूर्त के सत्यनिष्ठ भाषा दर्शन को भूल गए और भाषायी और क्षेत्रीय राजनीति के पचड़ों में पड़कर दो सौ वर्ष पीछे चले गए । आज अंग्रेजी हिंदी की सहचरी राजभाषा है और रहेगी जब तक कि विभिन्न क्षेत्र उसे चलते रहने देने के इच्छुक हों ।

स्वतंत्रता काल के प्रारंभ से ही हमारे चिंतन में विकृति आ गई थी । हमारे पहले ही विश्वविद्यालय शिक्षा आयोग ने पूर्ण उत्साह के साथ अंग्रेजी का विरोध किया था । उन्होंने कहा था कि अंग्रेजी भाषा हमारे जनतंत्र की अवहेलना है और इसलिए वह भारत की सिरमौर भाषा नहीं रह सकती । किंतु थोड़ी देर बाद ही उन्होंने क्षेत्रीय हितों के प्रश्न उठाकर हिंदी को क्षेत्रीय भाषा मान लिया और उसके अहिंदी-भाषी क्षेत्र के लिए अहितकर होने का प्रश्न उठा दिया । परिणामस्वरूप अंग्रेजी वहीं की वहीं रह गई और 'कमता में समता' का प्रतीक बन गई । वास्तव में भाषायी राजनीति शिक्षा और शासन संबंधी प्रश्नों के साथ इस तरह से उलझ गई है कि सभी सामाजिक, सांस्कृतिक और मनोवैज्ञानिक तथ्य राजनीति की धूप में फीके पड़ गए हैं । सवेरे की ताजगी सवेरे ही धूसरित हो गई । हमारी शिक्षा-यात्रा मातृभाषा से प्रारंभ होकर अंत में अंग्रेजी के द्वार पर समाप्त हो जाती है । हम अंकल-आंटी संबंध, अंग्रेजी वेशभूषा और स्टार कल्चर को संस्कृति मानने लगे हैं । हमारे भाषायी चिंतन का केंद्रबिंदु मात्र अंग्रेजी बन गई । हमारा गंभीर प्रश्न है । क्या अंग्रेजी के बिना हमारा काम चल सकेगा ?

अंग्रेजी के चक्र को देखकर कई बार हमारे देश के महानतम नेता हमारा आह्वान करते हैं कि जागो और सोचो कि तुम कौन हो और कहां हो ! महामहिम ज्ञानी जैलसिंह जी ने एक बार

दिल्ली विश्वविद्यालय में नौजवानों का उद्‌बोधन इस प्रकार किया : "मैं समझता हूं कि केवल राजनीतिक आजादी ही पूरी आजादी नहीं है, हमें मानसिक तौर पर भी आजाद होना है । इस मानसिक आजादी को हासिल करने के लिए हमें अंग्रेजी भाषा का सहारा छोड़कर अपनी भाषाओं को आगे बढ़ाना है । गांधी जी कहते थे कि कोई भी देश सच्चे अर्थों में तब तक स्वतंत्र नहीं है जब तक वह अपनी भाषा में नहीं बोलता । इसलिए जरूरी है कि हम अपने कामों में और जहां तक हो सके विदेशों में भी हिंदी का अधिक से अधिक प्रयोग करें । संसार के सभी उन्नत देशों की अपनी राजभाषाएं हैं और वे अपने देश की प्रगति के साथ अपनी भाषाओं का भी विकास करते हैं ।" ज्ञानी जी ने अपने स्वतंत्रता-संग्राम की भाषा को याद किया और कहा कि : "मेरे कानों में आज भी गूंज उठती हैं वे आवाजें जो चाहे जवाहरलाल नेहरू की थीं या महात्मा गांधी की थीं । इसी भाषा के द्वारा[1] उन्होंने सारे देश को अंग्रेजों के खिलाफ लड़ने के लिए तैयार किया था ।"

मानसिक स्वतंत्रता की समस्या प्रखर रूप में उभरकर अभी चुनौती के रूप में हमारे सामने नहीं आई है । एक अनुभवी शिक्षाविद् समाजशास्त्री का कहना है कि हमारा शीश (अर्थात् मस्तिष्क) गिरवी रखा हुआ है,[2] हम अपना स्वतंत्र चिंतन खो बैठे हैं । कई चिंतनशील मित्र इस अवस्था को स्मृतिभ्रंश, चित्तसंकर तथा मनोविकार का नाम देते हैं । चिंतन-विकार के कारण हमारे सांस्कृतिक ऐतिहासिक, आर्थिक, सामाजिक और यहां तक कि धार्मिक मानक और प्रारूप भी बदल गए हैं—हमारी बहुत-सी मान्यताएं या तो टूट गई हैं या संदिग्ध हो गई हैं । अंग्रेजी के ही संबंध में देखिए । एक सज्जन जो राजस्थान के एक छोटे-से गांव में जन्मे और गांव के स्कूल में ही अपनी बोली के माध्यम से पढ़े, अंग्रेजी पढ़ने शहर में आए तो अंग्रेजी के माध्यम से मानो उनके मन और बुद्धि के जाले उतर गए और वे अद्‌भुत प्रकाश के सूर्यमंडल में हिलोर लेने लगे । किंतु आगे चलकर ऐसा लगा मानो उनका अंतरात्मा, जिस पर गांव के जनमानस के संस्कार अंकित थे, अंग्रेजी दृष्टिकोण और पांच सितारा संस्कृति से मेल नहीं खाता । वे अंग्रेजी में लिखने भी लगे थे, किंतु आंतरिक द्वंद्व के कारण अंग्रेजी में उनके कृतित्व का मानो ग्रहण लग गया अथवा वे एक चट्टान के साथ टकराकर खड़े हो गए । यह कहकर फिर वे ही कहते हैं कि अंततोगत्वा भाषा-समस्या को इतने सीधे तौर पर नहीं समझा जा सकता कि हम अंग्रेजी को अपनाएं या हिंदी/क्षेत्रीय भाषाओं को; क्योंकि अंग्रेजी हमारे लिए सदा एक आवश्यक दूसरी भाषा के रूप में रहेगी । यह समझ लेने पर ही शायद हम अपने इतिहास के अंतर्विरोधों को कृतित्व शक्ति में परिणत कर पाएं ।[3] अंग्रेजी में लिखें तो चट्टान से टकराएं, न लिखें तो रास्ता नहीं मिलता । हम सांप और छछूंदर वाली स्थिति में हैं । न अपना सकते हैं, न छोड़ सकते हैं, एक भयंकर संशयात्मक स्थिति में किंकर्तव्यविमूढ़ खड़े हैं ।

1. विश्वविद्यालयों में हिंदी का प्रयोग—समस्याएँ और समाधान', संपादक डा० प्रशांत वेदालंकार (विनीता प्रकाशन दिल्ली, 1991), पृ० 10, 11, 12
2. डा० गिंगराडे, वही, पृ० 78
3. न०ब० मीणा, 'इंग्लिश एंड इंडियन कल्चर', 'इंग्लिश इन इंडिया', संपादक आर०एस० गुप्त एवं कपिल कपूर (एकेडेमिक फाउंडेशन, दिल्ली, 1991), पृ० 8, 104

यह आवश्यक तो नहीं कि यदि हमने अंग्रेजी भाषा को पढ़ा तो हम अपने धर्म और संस्कृति से कट जाएं । दलाई लामा और उनके साथी तिब्बत से भारत आए तो उन्होंने अंग्रेजी का गंभीर अध्ययन किया । किंतु उनके धर्म, संस्कृति और चिंतन की शैली में कोई विकृति नहीं आई । स्वयं नेहरू जी ने 'भारत एक खोज' में धर्म और संस्कृति के बारे में जो लिखा है उसे आज के वातावरण में पढ़कर आश्चर्य होता है । वे कहते हैं कि प्राचीन भारतीय संस्कृति का केंद्रबिंदु था धर्म जो किसी भी मजहब या मंतव्य-विशेष से बड़ा था । धर्म का मतलब था कर्तव्य और दूसरों के प्रति अपने कर्तव्यों का पालन करना । धर्म स्वयं ऋत का अंग था और ऋत का अर्थ समस्त जगत् और जो कुछ इसमें है उसके संचलन का आधारभूत नियम । यदि कोई ऐसा नियम इस जगत् का है तो मनुष्य का केवल यह कर्तव्य रह जाता है कि उस नियम में अपनी स्थिति कर ले, कर्म करे और उसी नियम के नियंत्रण में रहे । यदि मनुष्य अपना कर्म करे और अपने कर्म में सत्य का पालन करे तो फल तो अवश्य मिलेगा ही । प्राचीन काल में अधिकारों पर बल नहीं दिया गया था, करीब-करीब यही दृष्टिकोण अपनाया गया था । यह दृष्टिकोण आज के दृष्टिकोण से सर्वथा भिन्न था क्योंकि आज तो अधिकारों पर बल है—व्यक्ति, वर्ग और राष्ट्रों के अधिकार ।[4]

अपने अंग्रेजी शब्दों में नेहरूजी ने वेद, धर्म और कर्म के रहस्य को छू लिया । आगे चलकर उन्होंने यह भी कहा कि कर्म केवल व्यक्ति का ही नहीं होता, वर्गों और जातियों का भी होता है और प्रत्येक जाति का इतिहास उसके अपने सामूहिक कर्मों का फल होता है । प्रत्येक व्यक्ति और जाति को उसके कर्मों का फल मिलता है और हमारे पहले किए हुए कर्म ही हमारे इतिहास की दिशा का निर्धारण करते हैं । ये कर्म ही संस्कार बनकर हमारे मनस्पटल पर स्मृति रूप में अंकित रहते हैं और उन्हीं के ऊपर हमारी जातीयता और राष्ट्रीयता आधारित होती है । जातीयता या राष्ट्रीयता हमारे अतीत के कर्मों का स्मृतिपुंज है, किंतु हमारा कर्म हमारे इतिहास को नया मोड़ दे सकता है । मनुष्य को भाग्यवादी या अतीतवादी नहीं बनना चाहिए बल्कि आज के विज्ञान और तकनीकी को साथ लेकर कर्म करना चाहिए ।[5]

इन शब्दों से स्पष्ट है कि नेहरू जी, ऋत, धर्म और कर्म एवं धार्मिक और कार्मिक सिद्धांत के आधार पर जाति या राष्ट्र की संरचना को नियति का एक वरदान या अभिशाप मानते थे । वे जाति या राष्ट्र को सामूहिक स्मृति के आधार पर एक नियत और सुगठित समुदाय भी मानते थे । वैदिक परंपरा और विचारधारा के ऐसे अटूट भक्त होते हुए और धर्म को सार्वभौम, सर्वकालीन प्रेरणा-स्रोत मानते हुए भी दो-जाति सिद्धांत के आधार पर मुस्लिम लीग के सामने क्यों झुके ? यह एक पहेली नहीं तो क्या है ? इस पहेली का एक ही उत्तर है—या तो कर्म सिद्धांत की भाग्य सिद्धांत में परिणति अर्थात् यह मान लेना कि भारत का बटवारा हमारे प्रारब्ध का अंग था या फिर भारतीय जाति सिद्धांत की पाश्चात्य जाति सिद्धांत के सामने हार । और यह भारतीय जातिवाद

4. 'द डिस्कवरी ऑफ इंडिया', दूसरा संस्करण, पृ० 64
5. वही, पृ० 454, 455, 497

और पाश्चात्य जातिवाद का राजनीतिक द्वंद्व शायद उनकी पाश्चात्य शिक्षा का परिणाम ही था। इस विकल्प के अतिरिक्त एक ही विकल्प बचता है—शायद वे और उनके साथी इतने थक गए थे कि और अधिक संघर्ष करने की शक्ति उनमें नहीं बची थी। वे स्वयं कहते हैं कि हममें से बहुत सारे साथी तो इतने थक गए थे कि भारत की वर्तमान परिस्थितियों से छूटने का वैसे ही कोई रास्ता ढूंढ़ रहे थे मानो डूबते हुए किसी तिनके का सहारा ढूंढ़ रहे हों।[6]

नेहरू जी न केवल सृष्टि-नियम ऋत और कर्म सिद्धांत को ही मानते थे बल्कि ईश्वरीय सत्ता को भी एक आदर्श के रूप में मानते थे। उन्होंने सकारात्मक रूप में वाल्टेयर महोदय के शब्दों को उद्धृत किया है कि यदि ईश्वर नहीं भी है तो भी उसका सर्जन हमें मानवीय स्तर पर करना पड़ेगा। ऋत, नियति और ईश्वरीय व्यवस्था के संदर्भ में मानव के कर्तव्यों और कर्मफल को संपूर्ण व्यवस्था को मानते हुए भी वे उभरते भारत के विधान में अधिकारों के साथ-साथ नागरिक कर्तव्यों पर बल क्यों नहीं दे पाए ? नेहरू जी के पश्चात् श्रीमती इंदिरा गांधी ने आधारभूत कर्तव्यों को विधानबद्ध करने का प्रयास किया था किंतु वे सफल नहीं हो पाईं। आज हम मानवीय अधिकारों के सिद्धांत के आधार पर तो दुखी हो रहे हैं किंतु कर्तव्यों की बात करने की हिम्मत हममें नहीं है। हमारी ही राष्ट्रीय परंपरा के बावजूद हम अपने आप से इतने दूर क्यों ? उत्तर केवल एक है—हम अंग्रेजी के दबाव में अपनी संस्कृति, परंपरा, सभ्यता, इतिहास इत्यादि से कट गए और विदेशी आधार पर अपने विधान का प्रारूप बनाकर उसे वास्तविक राष्ट्रीय जीवन में परिणत कर बैठे।

अपनी जड़ों से कटकर पाश्चात्य चकाचौंध के फेर में हम विकासशील देश होते हुए भी भोगवाद अर्थात् कंज्यूमरिज्म का शिकार बन बैठे। हमने स्वतंत्रता युग के प्रारंभ में ही स्टैंडर्ड आफ लिविंग का राग अलापना शुरू कर दिया। आज के संचार माध्यमों को देखें, विलास-सामग्री की भरमार है। नेहरू जी ने ऋत की चर्चा की थी, यह हम कह चुके हैं। ऋत शब्द अथर्ववेद के भूमिसूक्त के प्रथम मंत्र में आता है। इस मंत्र में राष्ट्र के सात आधार-स्तम्भ बताए गए हैं :

सत्यं वृहदृतमुग्रं दीक्षा तपोब्रह्म यज्ञः पृथिवीं धारयन्ति।

यज्ञ का अर्थ है सरप्लस इकानमी, अर्थात् उत्पादन अधिक कंजम्पशन कम, कैपिटल फार्मेशन, इनवेस्टमेंट और फिर अधिक से अधिक उत्पादन, शक्ति-संचयन इत्यादि। हम तो सवेरा होते ही भोगवाद की ओर टूट पड़े। हमारा यह भोगवाद परिणाम है भौतिकवाद का, और भौतिकवाद है शुद्ध ऐहिकवाद। निःश्रेयस को तो छोड़िए, ऐहिकवाद के चक्कर में फंसकर हम तो अभ्युदय को भी भूल गए। अपनी आय से केवल अपना रोज का खर्च चलाते हैं और वह भी जब नहीं चलता तो भ्रष्टाचार का सहारा लेते हैं। आज के माता-पिता जब बेटी के लिए वर ढूंढ़ते हैं तो ऐसा वर चाहते हैं जिसकी ऊपर की आमदनी हो या दो नंबर का धंधा हो। आज यदि देश कर्ज की जकड़न में कसा जा रहा है तो उसके लिए हमारे अग्रणी और उनका खुट-दर्शन ही जिम्मेदार है। हम पांच-सितारा भोगवाद का प्रदर्शन क्यों करते हैं ? हमारे संचार-माध्यम पांच

6. 'द डिस्कवरी ऑफ इंडिया', पृ० 472

सितारा सौदागरों से पैसा लेकर हमारे साधारण जनसमुदाय को रंगीन छाया के हवाई टुकड़े डालते हैं और उन्हें चोरी, धोखाधड़ी, तस्करी, हत्या और गद्दारी के मंत्र सिखाते हैं और यह सब होता है आत्माभिव्यक्ति की स्वतंत्रता के नाम पर। यह सभ्यता और दर्शन हमने अंग्रेजी से ही तो लिया है।

किंतु कोई भी भाषा मात्र शब्दरूप नहीं होती, न रह सकती है। वाक् और अर्थ, शिव और शक्ति, शब्द और ब्रह्म, एक और अभिन्न हैं। प्रत्येक भाषा के साथ विषय-वस्तु, एक सभ्यता, संस्कृति, इतिहास और जीवन-दर्शन आदि जुड़े होते हैं। अंग्रेजी के साथ भी ये जुड़े हैं। किंतु अंग्रेजी के साथ जो संस्कृति और सभ्यता जुड़ी है उसका उद्गम आदिकाल से नहीं, रिनेसां काल (पुनर्जागृति) से प्रारंभ होता है। रिनेसां ने रूढ़िवाद को समाप्त करके बुद्धिवाद, साइंस और वैचारिक स्वतंत्रता का उद्घोष किया था। साइंस के साथ आई टेक्नोलजी और शासकीय शक्ति और विचार-स्वातंत्र्य के साथ आया व्यक्तिवाद तथा अधिकारवाद। शक्ति के साथ जहां सशक्तों के अधिकार बढ़े वहां अशक्तों के अधिकार घटते चले गए। इन्हीं बढ़ते-घटते अधिकारों के साथ-साथ साइंस के कारण भोगवाद की सामग्री भी बढ़ती चली गई और इसी कारण एक तरफ अमीरी तो दूसरी ओर गरीबी बढ़ती चली गई। अंग्रेज जब भारत में आए थे तो अमीरी की तलाश में ही आए थे। सोने की ईंटें इंग्लैंड पहुंचीं तो भारत से निकलकर ही तो पहुंचीं और जाते-जाते यहां के शिल्पकारों के हाथ भी काट कर ले गईं। हमारे देश में अंग्रेजी शिक्षा लागू तो की गई शिक्षा-प्रसार के बहाने, पर वास्तव में की गई राजशाही, आज्ञाकारी नौकरों की उपलब्धि के लिए। नेहरू जी 'भारत एक खोज' में लार्ड मैटकाफ़ के शब्दों को उद्धृत करते हैं। उन दिनों जहां बाहरी तौर पर शिक्षा-प्रसार की नीति अपनाई गई थी वहां आंतरिक रूप से यह नीति अपनाई गई थी कि भारत के लोगों को जहां तक हो सके अज्ञान और असभ्यता की जकड़न से निकलने न दिया जाए।[7] ये दोनों काम अंग्रेजी शिक्षा के माध्यम से संपन्न किए गए। जिन्हें यह शिक्षा मिली, वे अपनी जड़ों से कटकर भोगवाद के रास्ते राजसत्ता और चित्तसंकर से जुड़ गए और जो बचे थे वे अपने ही लोगों के गुलाम बन गए। अंग्रेजों के गुलाम तो सब थे ही।

अंग्रेजी साहित्य से हमें विचार-स्वातंत्र्य और अधिकारों की चेतना मिली। वैचारिक स्वतंत्रता के कारण ही हमने रूढ़िवाद को छोड़ा। किंतु हमारी इस चेतना और स्वतंत्रता का समसामयिक कारण क्या था ? अंग्रेजी हवा। हमारी जड़ों से स्वतंत्रता और चेतना का जो संचार आदिकाल से हो रहा था, और जिससे हम मध्यकाल में कटते जा रहे थे, उस आदिस्रोत से तो हम और भी कट गए और 1947 के पश्चात् भी कटते चले गए। हमने अंग्रेजी को नई रोशनी से जोड़ा और अपने प्राचीन साहित्य को रूढ़िवादी पोंगापंथियों से जोड़ दिया। यहीं नहीं, देश के विभाजन के बाद भी हमने अपने साहित्य को देश और उसकी सामूहिक परंपरा का साहित्य न मानकर मात्र हिंदू साहित्य कह दिया। इसका भयंकर परिणाम यह हुआ कि भारतीयता और

7. 'द डिस्कवरी आफ इंडिया', पृ० 263

हिंदुत्व ये दो अलग-अलग सत्ताएं बन गईं। पिछले दिनों जब रामायण और महाभारत सीरियल दूरदर्शन पर चले तो कई लोगों ने रोष प्रकट किया कि भारतीय सेक्यूलर दूरदर्शन पर ये हिंदू कृतियां क्यों दिखाई जा रही हैं। वास्तविकता यह है कि वेद, उपनिषद्, दर्शन, महाकाव्य ये सब मात्र हिंदुओं के ग्रंथ नहीं हैं, ये तो मानव मात्र के हैं। वेद स्वयं यह कहता है। यदि कोई मानव परिवार किसी भी देश में इसे अपनाकर अपने को गौरवान्वित मानता है तो उसे यह कहने का अधिकार है कि यह साहित्य हमारा है। किंतु दुनिया का कोई भी उच्च कोटि का साहित्य किसी की 'मोनोपली' तो है नहीं।

अंग्रेजी शिक्षा के साथ हमें भेदभाव और आत्मनिर्णय (सेल्फ-डिटर्मिनेशन) का गुरुमंत्र भी मिला। हमारे कुछ मुसलमान भाइयों ने पाकिस्तान का नारा इसीलिए बुलंद किया था और वे हमारे संदिग्ध जातिवाद के कारण सफल भी हो गए। किंतु वह बीमारी अभी भी हमारे शरीर में से निकली नहीं है। हमारे देश में अल्पसंख्यकों की समस्या ज्यों की त्यों खड़ी है। साथ-साथ तथाकथित हिंदू परिवार में भी दरारें डालने की कोशिश की जा रही है। बौद्ध और जैन परिवारों को हिंदुओं से अलग कहा जाता है हालांकि बुद्ध भगवान और भगवान महावीर को हिंदू विष्णु के अवतार मानते हैं। हम हिंदू शब्द को एक संप्रदाय का पर्यायवाची बनाने की कोशिश में हैं। गुरु गोविन्द सिंह जी महाराज के अपने शब्द हैं कि मेरा जन्म गौ, ब्राह्मण, चोटी और जनेऊ की रक्षा के लिए हुआ है—तो फिर सिक्ख अलग कैसे माने जाएं ? एक समय था जब अरब में चार महीने मक्का शरीफ की यात्रा के लिए नियत किए गए थे। उस दौरान वहां पर बड़े-बड़े मुशायरे ईश्वर-भक्ति के विषय पर होते थे। इन मुशायरों में जो कविताएं सर्वश्रेष्ठ मानी जाती थीं उनको सोने, चांदी के पत्रों या ऊंट की झिल्ली पर लिखकर सुरक्षित रखा जाता था। वे कविताएं जो हज़रत मुहम्मद के जन्म से करीब ढाई हजार वर्ष पूर्व की हैं और उनमें से बहुत सारी 'सैर-उल्-अकूल' नाम की एक पुस्तक में छपी भी हैं। उन्हीं कविताओं में से एक में लिखा है कि ईश्वर ने सृष्टि के आदि में अपने रसूलों को संपूर्ण ज्ञान का प्रकाश प्रदान कर दिया था। ये चार ग्रंथ हैं ऋक्, साम, यजुर, अथर। इन्हीं कविताओं में कई कविताएं महादेव की स्तुति में लिखी गई हैं, कई कृष्ण-भक्ति की हैं और कई भारत-भूमि की स्तुति में लिखी गई हैं। ये सब कविताएं अरबी भाषा में हैं। यदि ऐसा है तो हिंदू और मुसलमान अलग कैसे रहें ? तुर्की और ईरान में शिलालेखों पर वेदमंत्र मिले हैं। जेंद-आवेस्ता का कितना ही महत्त्वपूर्ण भाग ऋग्वेद से मिलता है। जरतुस्त स्वयं पुराणों में सरस्वती के पुत्र बताए गए हैं। जब ये तथ्य हमारे सामने हैं तो किसी भी स्तर पर वर्गवाद और जातिवाद क्यों ? वेद या गीता में हिंदू शब्द कहीं नहीं लिखा है। एक अनुसंधानकर्ता के मतानुसार तो महाभारत का युद्ध भी कहीं मध्य एशिया में हुआ था। ऐसी परिस्थितियों के होते ये अलगाववाद और आत्मवंचनाएं क्यों ?

उत्तर एक है : चित्त-संकर और चिंतन-विकार। हम अपने संचेतस् को पश्चिम की देन ही नहीं, धरोहर मानने लगे हैं। हमने अपने साहित्य को विकृत और दूषित मान लिया है। हम अपनी परंपरा से कटे बिना अपने आप को 'माडर्न' नहीं मान पाते। अपने आपको बहुसंख्यक या

अल्पसंख्यक माने बिना अपनी सत्ता को नकारा हुआ-सा मानते हैं। यह देश किसी वर्ग-विशेष का नहीं, सबका है। तो फिर मैं या आप अपने ही देश में अल्पसंख्यक क्यों ? किसी को अल्पसंख्यक कहना आत्महनन है। यह कहने वाले विरले ही लोग हैं। ऐसा है क्यों ? क्योंकि हमारे उच्चस्तरीय चिंतन की भाषा अंग्रेजी है। उसकी समस्त विचारधारा अलगाववादी है, भोगवादी और सत्तावादी है। हम वैदिक समन्वयवाद और मानववाद से कट गए हैं। आज जब कोई अंग्रेज या अमरीकन या जर्मन विद्वान अपने साहित्य, विज्ञान आदि विषयों पर बात करते हैं तो प्लेटो, अरस्तू एवं अन्य प्राचीन आचार्यों की बात करता है और स्वाभिमान के साथ करता है। किंतु हम साइंस के क्षेत्र में सांख्य की बात नहीं करते, तर्क-वितर्क में गौतम की चर्चा नहीं करते, काव्य के विषय में विश्वनाथ की चर्चा नहीं करते। हम संस्कृत को अंग्रेजी के माध्यम से पढ़ सकते हैं। किंतु यदि कोई अंग्रेजी साहित्य को हिंदी के माध्यम से पढ़ना चाहे तो ? यह तो कल्पना भी नहीं की जा सकती। कवि की जो परिभाषा वेद में है वैसी और कहीं नहीं मिलती।

इस चित्त-संकर के द्वारा मानो हम अपने ऋषिऋण को उतार रहे हैं। वास्तव में हम अभी भी पाश्चात्य शक्तियों के उत्तराधिकारियों के रूप में ही सोच रहे हैं। यह ऋषिऋण इस प्रकार हम क्यों उतार रहे हैं ? क्योंकि हम यह मानते हैं कि हमें नई रोशनी देने वाली तो अंग्रेजी भाषा ही है। वास्तव में 'माडर्न' वह है, जो अपने विचारों में स्वतंत्र है। किंतु हम अपने आपको केवल अंग्रेजी के कारण 'माडर्न' मानते हैं, और इस प्रकार अपने आपको 'माडर्न' एवं स्वतंत्र कहते-कहते मानसिक परतंत्रता में जकड़े जा रहे हैं। स्वतंत्र वह है जो अपनी सोच के लिए दूसरे पर निर्भर नहीं करता। आत्मा स्वयंसिद्ध है, स्वतंत्र है देश-काल-समाज-परिवेश इत्यादि एक ओर, और आत्मा दूसरी ओर, इनके बीच एक विचित्र अस्तित्वशील संघर्ष चलता रहता है। यह संघर्ष न तो नकारात्मक है और न गतिरोधक, यह संघर्ष सहयोगात्मक और संयोगात्मक है। हम केवल व्यक्तिगत स्तर पर ही नहीं जीते। हमारे व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति व्यक्ति, परिवार, वर्ग/वर्ण, देश/राष्ट्र, राष्ट्रमंडल, भूमंडल और सृष्टिमंडल—इन सात स्तरों पर होती है। हम अपने परिवार और परिवेश के माध्यम से जीते हैं और हमारा परिवार हमारे क्रियात्मक कृतित्व के माध्यम से आगे बढ़ता है। इस व्यक्ति-परिवेश सहयोग में व्यक्ति अपने आत्मा को परिस्थितियों का दास न होने दे बल्कि आत्मा के रूप में जकड़न को नकारकर परिवार और मानवता को सुख, शांति और समृद्धि की दिशा में आगे ले जाए, यह उसका कर्तव्य है। परिस्थितियों के बीच अभ्युदय और निःश्रेयस की सिद्धि करना स्वान्तःसुखाय, सर्वजन हिताय—यह स्वतंत्रता है, यह 'माडर्निटी' है। अंग्रेजी भी हमारी परिस्थितियों का अंग है। आज तक जो सोचा गया वह भी हमारी परिस्थितियों का अंग है। जो हम सोचते हैं और करते हैं वह भी तत्काल हमारी परिस्थितियों का अंग बन जाता है। कृतित्व, स्वतंत्रता, 'माडर्निटी' क्षण-क्षण अपनी ही परिस्थितिभूत कृतियों से ऊपर उठकर एक नित्य सनातन को नित्यनूतन रूप देते रहते हैं। 'माडर्निटी' निरंतर गतिशील है। अंग्रेजी और गतिशीलता का कोई अनिवार्य या अंतिम संबंध नहीं है। 'माडर्निटी' एक मनःस्थिति है जो हवा से नहीं, अंदर से या जड़ों से संचरित होती

है । अंग्रेजी एवं कोई भी भाषा उसमें योगदान दे सकती है पर उसका पर्याय नहीं बन सकती । हमने अंग्रेजी और 'माडर्निटी' को पर्याय मान रखा है । मनुष्य का मानसिक जीवन, उसकी चेतना का संसार मुख्यतः सामाजिक जीवन है । इस जीवन में असंख्य विचारधाराएं, सांस्कृतिक अवधारणाएं और नानाविध अनुभूतियां मनुष्य के चेतना-केंद्र को समृद्ध बनाती हैं । संस्कृति उन सबका केंद्रबिंदु है । संस्कृति और साहित्य का घनिष्ठ संबंध है । संस्कृति हमें विषयों के पर्यालोचन और विमर्श की क्षमता प्रदान करती हैं । आज के संक्रांति काल में हमें अपनी संस्कृति के मूल को पहचानना है । विदेशी भाषा, सभ्यता और प्रचार-माध्यमों के कारण हमारी संस्कृति हमारी आंखों से ओझल होती जा रही है । संस्कृति का ओझल होना अपनी जातीय अस्मिता की शक्ति का ह्रास होना है ।[8] यह चेतावनी है ।

आज हम एक नये संक्रांति काल से गुजर रहे हैं । हमारा एक संक्रांति काल तो 1947 तक चला था । उस दौरान एक ओर तो राष्ट्रीय स्तर पर स्वतंत्रता-संग्राम लड़ा गया और दूसरी ओर अपनी मध्यकालीन रूढ़ियों और अंधविश्वासों के विरुद्ध धार्मिक और सामाजिक आंदोलन चलाए गए । फलस्वरूप हमारे धार्मिक और राष्ट्रीय आदर्शों का समीकरण स्वतंत्रता में हो गया—वैचारिक स्वतंत्रता, धार्मिक-सामाजिक स्वतंत्रता और राष्ट्रीय स्वतंत्रता । अंग्रेजी शिक्षा से जहां हमारा अंग्रेजीकरण हुआ और हम अंग्रेजियत से जुड़े, वहां अंग्रेज शासकों के प्रयासों के बावजूद हमें स्वतंत्रता और स्वाभिमान का संदेश भी मिला । यह संक्रांति काल 1947 में समाप्त हो गया । हमारी स्वतंत्रता के कर्णधार थे गांधी, नेहरू, पटेल इत्यादि, किंतु वे सब अंग्रेजी पद्धति से पढ़े थे । इन सभी भारतीयों के मन में अंग्रेजों और अंग्रेजी के साथ प्यार एवं घृणा का संबंध था । लार्ड माउंटबेटन इस संबंध के प्रतीक थे । इस दौरान जहां पुराने संबंध कॉमनवैल्थ इत्यादि बने रहे वहां नए संबंध भी बने । आंतरिक समस्याएं भी खड़ी हुईं । अंग्रेजी शिक्षा की मान्यता भी बदली और रूप भी थोड़ा-थोड़ा बदला । आहिस्ता-आहिस्ता गांधी-नेहरू युग समाप्त हुआ और नए नेताओं का युग प्रारंभ हुआ । एक नया सत्तावाद प्रारंभ हो चुका है । समाजवाद का नारा बदल चुका है और जनता की आवाज को एक राजनीतिक मान्यता के रूप में पहचाना जा रहा है । अमरीका सेंटर-स्टेज की ओर आने लगा है । अंग्रेजी अंतर्राष्ट्रीय भाषा के रूप में एवं अपनी शक्ति से जनता पर छाने लगी है और साथ-साथ भारतीय भाषाओं की मांग भी उठने लगी है । अंग्रेजी सहभाषा बन चुकी है और शिक्षा और शासन-जगत् में जमी हुई है ।

यह संक्रांति काल हमारे संचिंतन का समय है । हमें देश और काल दोनों दिशाओं में सोचना है । नेहरू जी ने एक समय कहा था कि हमारी सभ्यता और संस्कृति की शाखाएं चाहे जहां तक फैली हों, कहीं की हवा उसके फूल-पत्तों को लगे, उसकी जड़ें देश में ही होनी चाहिए । इसलिए सबसे पहले यह आवश्यक है कि हमारी शिक्षा का माध्यम और उसका विषय-वस्तु स्वसंस्कृतिनिष्ठ हो । हम नई हवा ले लें, नया पानी ले लें, नई खाद ले लें, पर

8. विजयेन्द्र स्नातक, 'हिंदी : मातृभाषा, राष्ट्रभाषा और संपर्क-भाषा', 'विश्वविद्यालयों में हिंदी का प्रयोग : समस्याएं और समाधान', सं० प्रशान्त वेदालंकार, पृ० 19

हमारी जड़ें अपनी रहनी चाहिए । यदि हम अपनी जड़ों से कट गए तो अपना स्वरूप ही खो बैठेंगे । दूसरी बात यह है कि जीवन के प्रति हमारा दृष्टिकोण संस्कृतिनिष्ठ होना चाहिए । हमारी शिक्षा वह दृष्टिकोण दे, यह हमारी योजना का अंग होना चाहिए । यह दृष्टिकोण भोगवादी (कंज्यूमरिस्ट) दृष्टिकोण नहीं हो सकता क्योंकि वह न हमारी संस्कृति से मेल खाता है और न हमारी विकासशील अर्थ-व्यवस्था से । यह दृष्टिकोण हमारी अमीर, गरीब सामाजिक व्यवस्था से भी मेल नहीं खाता । यदि हम चकाचौंध के प्यार में दो नंबर की चाल से चलते रहे तो किसी न किसी दिन कोई न कोई दुख का मारा हमें उत्तर देने पर मजबूर कर देगा—हम तो कीचड़ और अंधकार में पड़े सो रहे थे, तुम जागे थे, तुमने क्या किया ?

अंग्रेजी काल में हमारे देश में साक्षरता घटी, निरक्षरता बढ़ी । अंग्रेजी काल से पहले और अंग्रेजी लागू होने तक भी शायद ही कोई व्यक्ति ऐसा था जो साक्षर नहीं था । यह शिक्षा थी तो साधारण स्तर की अर्थात् केवल इतनी कि आदमी दैनिक जीवन संबंधी हिसाब-किताब कर ले, किंतु फिर भी शिक्षा तो थी ही । आज स्वतंत्रता-प्राप्ति के 50 वर्ष बाद संसार की निरक्षर जनता का सबसे बड़ा भाग भारत में रहता है । कारण ? धनाभाव और कार्यकर्ताओं की कमी । आज भी हमारी अंग्रेजी शिक्षा की बढ़ती मांग के कारण अंग्रेजी बजट इतना भारी है कि छोटे कार्यक्रमों के लिए धन बचता ही नहीं । भोगवादी व्यवस्था में सेवा गई-बीती बात हो गई है । इसलिए कार्यकर्ताओं को पैसा देना पड़ता है और स्वयंसेवक मिलते नहीं । अतः हमें साधारण शिक्षा के लिए बजट बढ़ाना पड़ेगा । ऊपर का खर्च कम करना पड़ेगा और एक स्वयंसेवी शक्ति तैयार करनी पड़ेगी । प्रत्येक विद्यार्थी को शिक्षा-सेवा करनी पड़े, यह आवश्यक कर देना चाहिए । हमारे पास कितने ही सेवानिवृत्त लोग बैठे हैं, उनको सेवा-कार्य में स्वयंसेवक के रूप में जोड़ना चाहिए । वानप्रस्थ की परिभाषा को समझना चाहिए ।

हमारे शिक्षा प्राप्त और शिक्षारत नौजवानों का स्तर एक तरह ऊंचा उठ रहा है और दूसरी तरह गिर रहा है—एक ओर वरिष्ठ विद्यार्थी बहुत अंक प्राप्त करते हैं, दूसरी ओर भीड़ की भीड़ फेल हो जाती है । फेल होने का मुख्य कारण अंग्रेजी माध्यम है । माध्यम अंग्रेजी होने के कारण विद्यार्थी का अधिकतर समय अंग्रेजी सीखने में लगता है । दूसरे विषयों के लिए समय कम मिलता है और जितना मिलता है उतने में विषय समझ में नहीं आता । अंततोगत्वा हमें शिक्षा-माध्यम बदलना पड़ेगा । माध्यम को बदलने के साथ-साथ देश की प्रशासन-भाषा अंग्रेजी को हटाना पड़ेगा । आज हमारे सामने मुख्य समस्या यह है कि क्या हिंदी या दूसरी भारतीय भाषाएं अंग्रेजी का स्थान ले सकती हैं ? जब तक हम यह प्रश्न करते रहेंगे तब तक अंग्रेजी अपनी जगह ज्यों की त्यों बनी रहेगी । वास्तव में इस प्रश्न को करने वाले यह जानते ही नहीं कि हिंदी और दूसरी भाषाओं में कितना काम हो चुका है और हो रहा है । हिंदी में इतना काम हो चुका है कि यदि कल अंग्रेजी का स्थान हिंदी को लेना पड़े तो हिंदी इसके लिए आज ही सक्षम है । हिंदी एवं दूसरी भाषाएं सक्षम हैं या नहीं ? उन्हें सक्षम कैसे बनाया जाए ? ये प्रश्न दो सौ वर्ष से बार-बार उठाए जाते रहे हैं, अब बंद होने चाहिए । हमारा प्रश्न सीधा होना चाहिए । भारत में

भारतीय भाषा कैसे हो ?

भाषा एक प्रवाह है । प्रवाह में जो और प्रवाह मिलते हैं वे मिल कर एक होते रहते हैं । हमारी भाषा में अंग्रेजी के इतने शब्द आ गए हैं कि हमारी अपनी भाषाओं का रूप बदला हुआ-सा दीखता है । एक सज्जन दो समस्याएं खड़ी करते हैं—एक तो भारतीय भाषाओं का अंग्रेजीकरण और दूसरा अंग्रेजी भाषा का भारतीयकरण । हिंदी के अंग्रेजीकरण का वे उदाहरण देते हैं :

मम्मी जी, डैडी जी ने कहा है कि उनका सूट ड्राइक्लीनिंग के लिए लांडरी में भेज दीजिए ।

अथवा

मम्मी जी, ब्रेड और बटर टेबल के इस तरफ पास कीजिए ।

मुझे इन वाक्यों से कोई दिक्कत नहीं होती । भाषा का वास्तविक आधार उसकी वाक्य-रचना है । शब्द तो ऐसे आते रहते हैं जैसे मकान के लिए सामग्री । जो मैटीरियल मकान में खप जाता है वह मकान का अंग बन जाता है; जो बच जाता है वापस लौटा दिया जाता है या फेंक दिया जाता है । अंग्रेजी में तो 80 प्रतिशत शब्द बाहर के हैं । फिर भी अंग्रेजी अंग्रेजी है । तो फिर हिंदी अथवा दूसरी भारतीय भाषाओं में यह आपत्ति क्यों ? अंग्रेजी का भारतीयकरण तो हो रहा है और वह होता रहेगा । एक काम हमें अवश्य करना चाहिए । वह है अंग्रेजी स्पेलिंग का सुधार—ऐसा जो अमरीकन भी नहीं कर पाए । और यदि वह हमने कर दिया तो सारी दुनिया हमारी ऋणी हो जाएगी । धन्यवाद तो करेंगे ही । विद्यार्थियों का तो कल्याण हो जाएगा ।

अंग्रेजी शिक्षा-माध्यम और प्रशासन-माध्यम के स्थान को छोड़ेगी तो अवश्य, किन्तु कब और कैसे, यह अभी भविष्य के गर्भ में छिपा है । कभी-कभी ऐसी घटनाएं घटती हैं जो हमें सोचने पर मजबूर कर देती हैं । पंजाब में जब उग्रवाद जोरों पर था तो पंजाब सरकार पंजाबी को प्रशासन माध्यम बनाने के लिए, और वह भी कुछ दिनों में, विवश हो गई थी । ऐसी स्थिति को सामने देखते हुए यह पूछना पड़ता है कि जनभाषा को अपना स्थान दिलाने के लिए उचित या आवश्यक साधन आखिर कौन-सा है ? हमें अपनी भाषा-नीति में परिवर्तन तो करना पड़ेगा पर कर्मठ राष्ट्र की तरह पहले कर लें तो ही अच्छा है । मजबूरी तो परिस्थितियों की दासता का नाम है ओर भय यह है कि कहीं ऐसी स्थिति बन ही न जाए ।

अंग्रेजी एक वर्ग-विशेष की भाषा है । अंग्रेजी शासन की नीति के अनुसार इसी वर्ग को अंग्रेजी भाषा, सभ्यता और शासन हितों को सुरक्षित रखना था । जब हम अंग्रेजी के पक्ष में दलील देते हैं तो जनसाधारण का पक्ष तो सामने रखते ही नहीं, सभी केवल वर्ग विशेष के हित की बात करते हैं । भाषायी और आर्थिक परिस्थितियां ऐसी बन गई हैं कि सब उसी वर्ग में सम्मिलित होना चाहते हैं, इसलिए देश की भाषाओं का पक्ष लेने के स्थान पर अंग्रेजी का ही पक्ष लेते हैं । जनसाधारण इस नीति से कितना परेशान है इसका किसी को अनुमान नहीं है । हमारा राष्ट्र दो समाजों में बंटा हुआ है—अंग्रेजीविद् और अंग्रेजीविहीन । अंग्रेजीविद् अपने आप को देश का वास्तविक और महत्त्वपूर्ण समाज मानता है और शेष जनता को नकारता है ।

आज हमें आवश्यकता है संचिंतन की, ताकि सारा भारत अपने वर्तमान और भविष्य के विषय में सोच सके । गांधी जी ने यही कहा था । हमें अपने संचेतस् को पुनः प्राप्त करना है । वह तभी हो सकता है जब देश अपनी भाषा के माध्यम से सोचे । वह भाषा हमें खोजनी पड़ेगी । वह भाषा हिंदी हो, या हिंदी का कोई अखिल भारतीय रूप जो देश की भाषाओं के निकट हो, यह भी सोचना पड़ेगा और सोचा गया भी है । एक बात तो साफ और सर्वमान्य है—वह भाषा अंग्रेजी नहीं हो सकती । वह हमारे संचेतस् को झंकृत नहीं कर सकती । संचेतस् के लिए संवाद चाहिए । जब तक हम एक भाषा पर नहीं पहुंचते, संवाद के लिए काम तो अवश्य कर लेना चाहिए : देश की सभी भाषाओं को ऐच्छिक रूप से एक लिपि में लिखना । वह लिपि कौन सी हो ? विनोबा जी ने कहा था कि वह लिपि देवनागरी हो सकती है जो ऐच्छिक रूप से सहलिपि के रूप में अपनाई जा सकती है । यदि हमारी भाषाएं एक लिपि में लिखी जाएं तो हमें यह पता चलेगा कि वे सारी आत्मा, संरचना और शब्दावली में निकट हैं और समयानुसार अत्यंत निकट आ जाएंगी । 'एक लिपि' हमारा न्यूनतम भाषायी प्रोग्राम बन सकता है और उसे अपनाया जाना चाहिए ।

अंग्रेजी के स्थान पर हमारी भाषा क्या हो ? एक या अनेक ? एक भी हो सकती है, अनेक भी । यदि हमारे प्रदेश अपनी-अपनी भाषा अपनाकर देवनागरी को सहलिपि के रूप में अपना लें तो हम देवनागरी को विविध भाषाओं के अनुरूप बना लेंगे, और हमारी भाषाएं आर्थिक और समाजिक आवश्यकताओं के अनुसार निकट और निकटतर आती चली जाएंगी । अंततोगत्वा एक ऐसी अखिल भारतीय भाषा उभरेगी जो नई भारती बनेगी और हमारी नई आवश्यकताओं के अनुरूप होगी । ये आवश्यकताएं हैं संगति, संवाद और संचेतस् । हम संक्रांति काल से गुजर रहे हैं । हमारा नया सवेरा नवजागरण लेकर आएगा । 'उठ जाग मुसाफिर भोर भयी···' यह आज का आह्वान है, पहले का भी था । पहले सोए जागे थे, अब जागे हुए जागेंगे । जागो तभी सवेरा !

□□